

वैदिकी जीवन-दृष्टि

शशिप्रभा कुमार

वेद भारतीय परम्परा के मूलस्रोत हैं और वैदिक चिन्तन उसी उत्स से निःसृत विचार-बिन्दुओं का नवनीत है। ईश्वरीय ज्ञान जब तपःपूत ऋषियों के पावन अन्तःकरण में प्रकाशित हुआ, तब 'वेद' संज्ञा से अभिहित हुआ। अनादि काल से यह दिव्य ज्ञानगङ्गा मानवजाति को उदात्त विचारों एवं अनवद्य आचार की प्रेरणा देती आ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि पुनीत वैदिक विचारधारा शाश्वत जीवन-दृष्टि एवं अवदात मानवीय अभीप्साओं की संवाहिका है जो आधुनिक युग में भी प्रेरक मूल्यबोध प्रदान करने में सक्षम है तथा आगामी काल में भी इसी भाँति अविरत आशा, उत्साह एवं स्फूर्ति की सन्देशदायिनी रहेगी। इन्हीं भावनाओं की पृष्ठभूमि में यह संक्षिप्त आलेख प्रस्तुत है जो भव्य वैदिक चिन्तन का मात्र स्थालीपुलाक न्याय से दिग्दर्शन कराने का एक विनम्र प्रयास है, अन्यथा विशाल वैदिक वाङ्मय में सन्निहित व्यापक ज्ञानोदयित्व के गहन मर्म का आकलन इस स्वल्प निबन्ध में कदापि सम्भव नहीं। अस्तु-

मानव-जीवन परमात्मा की अद्भुत अलौकिक देन है। इसे सर्वथा निरुद्देश्य यादृच्छिक घटना मानकर मात्र 'कायानुपश्यी' आयु-यापन करना ही जीवन नहीं है, अपितु यह एक ऐसा विलक्षण अवसर है जब इसी मर्त्य देह में रहकर जीव अमर्त्य की साधना कर 'मृत्युञ्जय' बन सकता है। वैदिक चिन्तन में जीवन के स्वरूप, प्रयोजन एवं पद्धति पर जो अमूल्य सङ्केत सन्निविष्ट हैं, उनका आकलन करना ही प्रस्तुत प्रतिपादन का अभीष्ट है।

तदनुसार मानव-जीवन क्या है? सर्वप्रथम यही विचार विमर्श की अपेक्षा रखता है। इस प्रश्न के उत्तर भिन्न-भिन्न कालों में विविध प्रकार से दिए गए हैं, तद्यथा-जीवन मिथ्या प्रपञ्च है, वास्तविक भोगशाला है, कर्मक्षेत्र है, साधनास्थली है अथवा एक रङ्गमञ्च है जिस पर सभी पात्र अपने-अपने कर्मों की गति के अनुसार अभिनय करने आते हैं। इस दृष्टि से अन्वेषण करने पर वैदिक जीवन-दृष्टि एक

नूतन पक्ष अनावृत करती है कि मनुष्य का लक्ष्य आरोहण (ऊपर चढ़ना), आक्रमण (सर्वतः गतिशीलता) एवं उद्यान (ऊपर जाना) है-

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (अथर्ववेद 5.30.7)

अर्थात् ऊपर चढ़ना और सर्वथा गतिशील रहना ही जीवन का लक्ष्य है।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथर्ववेद 8.1.6)

अर्थात् हे मनुष्य तेरा लक्ष्य उन्नति है न कि अवनति।

उदायुषा स्वायुषोदस्थाम्। (यजु. 4.28)

अर्थात् मैं दीर्घ और शुभ आयु के लिए उद्योगशील रहूँ।

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि। (यजु. 1.7)

अर्थात् मैं विस्तृत एवं उत्कृष्ट क्षेत्र की ओर जाऊँ।

यह जीवन एक असाधारण अवसर है जो बड़े पुण्यकर्मों के प्रभाव से प्राप्त हुआ है। वस्तुतः मनुष्य का जन्म एक ऊर्ध्वमुखी यात्रा का सनातन सन्देश है। ब्रह्माण्ड में अन्य किसी योनि के प्राणी का शरीर ऊर्ध्वोन्मुख नहीं है, केवल मनुष्य को ही यह सौभाग्य सुलभ हुआ है। इसलिए उसे सतत उत्कर्ष की कामना रहनी चाहिए—यही भाव इन वैदिक प्रार्थनाओं में मुखरित होता है कि हम ‘उत्’ से ‘उत्तर’ और फिर ‘उत्तर’ से ‘उत्तम’ की ओर अग्रसर हों-

उद्वयं तमसस्परि स्व पश्यन्त उत्तरम्।

देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजु. 20.21)

अर्थात् हम अन्धकार से परे, (ओ३म्) प्रकाश को देखते हुए क्रमशः ‘उत्’ से ‘उत्तर’ और फिर ‘उत्तम’ ज्योति सूर्य तक पहुँचें।

जैसा कि उक्त सङ्केतों से स्पष्ट है, मानव-जीवन एक निरन्तर ऊपर उठने, आगे बढ़ने और ऊँचे चढ़ने का सन्देश है किन्तु यहाँ एक अन्य तथ्य भी ध्यातंत्र्य है कि यह गति या आरोहण केवल भौतिक या यान्त्रिक नहीं, अपितु उसमें तम से प्रकाश की ओर, पृथिवी से अन्तरिक्ष की ओर तथा उससे भी ऊपर उत्तम ज्योतिपुञ्ज, दिव्य प्रकाश सूर्य की ओर जाने की आकाङ्क्षा अभिलक्षित होती है। मानव की यह अन्तरङ्ग अभीप्सा, यह ऊर्ध्वोन्मुख आस्पृहा ही उसे विश्व के अन्य सभी जीवों से विशिष्ट बनाती है जो वैदिक वाङ्मय में पदे-पदे परिलक्षित होती है-

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह। राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।

(अथर्व 13.1.3)

अर्थात् हे मनुष्य तू आध्यात्मिक उन्नति कर, भौतिक उत्कर्ष भी प्राप्त कर, तेज को भी और आर्थिक समृद्धि को भी प्राप्त कर-

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि। आप्नुहि श्रेयांसमतिसंक्राम।

(अथर्व. 2.11.5)

अर्थात् हे मनुष्य! तू पवित्र है, प्रकाशवान् है, आनन्द है, तेजस्वी है—तू कल्याण को प्राप्त कर और उससे भी आगे बढ़।

वैदिक चिन्तन में मानव की सामान्य आयु सौ वर्ष या उससे भी अधिक मानी गई है। अनेकशः वेदमन्त्रों में ‘दीर्घायु’ होने की प्रार्थनायें मिलती हैं। किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि पूर्णतः स्वस्थ शरीर एवं अङ्गों के साथ ‘अदीन’ होकर शतायु जीवन-यापन की कामना है—

सर्वमायुर्यतु जीवनाय। (अथर्व 12.2.24)

अर्थात् प्रभु हमारी समग्र आयु को जीवन के लिए ले चलें।

देवा न आयुः प्रतिरन्तु। (ऋ. 1.89.2)

अर्थात् देवगण हमारी आयु बढ़ायें।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतम्। जीवेम शरदः शतम्। शृणुयाम शरदः शतम्। प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्। भूयश्च शरदः शतात्॥ (यजु. 36.24)

अर्थात् वह सामने पवित्र, दिव्य, समग्र विश्व का नेत्र (सूर्य) चढ़ रहा है। हम (उसे) सैकड़ों वर्षों तक देखें। हम सौ वर्षों तक जीवित रहें। सौ वर्षों तक सुनते रहें। सौ वर्षों तक बोलें, सौ वर्षों तक अदीन (स्वाधीन) होकर जी सकें। उससे भी परे, सौ वर्षों तक जीते रहें।

किन्तु विशेष उल्लेखनीय है कि वैदिकी दृष्टि में शतायुपर्यन्त स्वस्थ रहना मात्र ही जीवन का लक्ष्य नहीं है। अपितु दिनानुदिन उत्कर्ष एवं उन्नति करते हुए तथा सभी प्रकार के सद्गुणों से स्वयं को समन्वित करते हुए अपने चरम ध्येय की ओर अग्रसर होना ही जीवन का वास्तविक सार है—

जीवेम शरदः शतम्। बुध्येम शरदः शतम्।

रोहेम शरदः शतम्। पूषेम शरदः शतम्।

भवेम शरदः शतम्। भूवेम शरदः शतम्।

भूयसीः शरदः शतात्॥

(अर्थव. 19.67.2-8)

अर्थात् हम सौ वर्षों तक जीवन-यापन करें। निरन्तर सौ वर्षों तक ज्ञानपूर्वक रहें, उत्तरोत्तर उन्नति करते रहें, पुष्टि प्राप्त करें, आनन्दमय जीवन व्यतीत करते रहें, सद्गुणों से भूषित होते रहें, सौ से भी अधिक वर्षों तक जीवित रहें।

मानव-जीवन का लक्ष्य है अमृतत्व की सिद्धि और यही चरम ध्येय मनुष्य को 'अमृतपुत्र' सम्बोधन का अधिकारी बनाता है-

शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः। (ऋ. 10.13.1)

अर्थात् हे सभी अमृत की सन्तानों! सुनो!

अमृत की अदम्य आस्पृहा मानव-जीवन का परम प्रयोजन है, इसीलिए 'मृत्युबन्धु' होने पर भी मनुष्य 'मृत्युञ्जय' होना चाहता है-

मृत्युबन्धव.....मनवः। (ऋ. 8.18.22)

अर्थात् मनुष्य मृत्यु से बँधे हुए हैं।

परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु। (अर्थव. 18.3.62)

अर्थात् मृत्यु हमसे दूर जाये और अमृत (पद) हमारे पास आये।

मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्। (ऋ. 7.59.12)

अर्थात् मैं मृत्यु से मुक्त हो जाऊँ किन्तु अमृत से नहीं।

मरणधर्मा मनुष्य मृत्यु को लौँघकर अमर्त्य की कोटि तक कैसे पहुँचे-यही वैदिकी जीवन-दृष्टि का मर्म है। इस यात्रा का पहला सोपान तो स्वतः सुलभ है-प्रत्येक जन्म लेने वाला मनुष्य 'मृत्यु' को प्राप्त होगा, यह सार्वत्रिक सत्य है। किन्तु कोई विरला, विलक्षण 'धीर' इसके परे 'अतिमृत्यु' तक भी जा सकता है तथा तदनन्तर तीसरी पदवी 'अमृत्यु' को भी पा सकता है, यह आशापूर्ण सन्देश वैदिक चिन्तन के अतिरिक्त विश्व-साहित्य में अन्यत्र अप्राप्य है-

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनायः। (यजु.31.8)

अर्थात् उस परम तत्त्व को जानकर ही मृत्यु के पार जाया जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामनध्यैरयन्त। (ऋ. 1.189.1)

अर्थात् जहाँ देवगण अमृत का आस्वादन करते हुए तीसरे पद में ध्यान लगाया करते हैं (वहाँ मुझे ले जाओ) ।

अतः 'मृत्यु' जीवन का अकाट्य सत्य है अवश्य, तथापि 'अतिमृत्यु' और फिर 'अमृत्यु' (अमृत) की स्थिति भी मानव का लक्ष्य है—यही जीवन का साध्य है जो अन्य किसी योनि में सम्भव नहीं, केवल मानव-जीवन में ही शक्य है। इसीलिए वैदिक वाङ्मय में पुनः-पुनः इस वर्तमान मानव-जन्म की महत्ता प्रतिपादित की गई है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीदथ महती विनष्टिः । (केनोपनिषद्)

अर्थात् यदि यहाँ (इसी जीवन में) उस परम तत्त्व को जान लिया तो ठीक है, वरना बड़ी क्षति है।

'अमृतत्व' रूपी परम साध्य का साधनभूत होने से यह मानव-देह भी परम पवित्र मानी गई है—इसे 'ब्रह्मपुरी' की संज्ञा से अभिहित किया गया है—'देवपुरी' कहा गया है, 'दैवी नाव'^३ तथा 'दैवी वीणा'^४ के साथ-साथ रथ^५ के रूपकों में भी बाँधा गया है। इन सभी सन्दर्भों का सार यही है कि देह उपेक्षणीय नहीं, संरक्षणीय है—परन्तु मानव-जीवन का साध्य मात्र देह या दैहिक भोग नहीं, उसमें व्याप्त 'देही' या आत्मा है, वही ज्ञातव्य है तथा साध्य है, उसी को जानना जीवन का उद्देश्य है और उसके ज्ञान से ही मृत्यु के पार जाना सम्भव है। अतः आत्मज्ञान अमृतत्व का सेतु है और मानव-देह आत्मज्ञान का सोपान, इस दृष्टि से जीवन और मृत्यु एक ही सत्य के दो पक्ष हैं—एक को जाने बिना दूसरे का ज्ञान सम्भव नहीं।

वैदिकी जीवन-दृष्टि सर्वाङ्गीण है, एकाङ्गी नहीं, अतः उसमें देह के स्वास्थ्य द्वारा समग्र आयु भोगने का भाव सन्निहित है। यत्र-तत्र शरीर तथा उसके विभिन्न अङ्गों के सशक्त रहने की अनेक प्रार्थनायें तथा सर्वथा 'अदीन' भाव से शतायुपर्यन्त जीवन की कामनायें प्राप्त होती हैं—

अश्मा भवतु नस्तनूः । (यजु. 29.49)

अर्थात् हमारा शरीर चट्टान की भाँति सुदृढ़ हो ।

इयं ते यज्ञिया तनूः । (यजु. 4.13)

हे मनुष्य ! तेरा यह शरीर यज्ञमय है ।

स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज । (अथर्व. 11.1.22)

हे मनुष्य ! तू अपने शरीर रूपी क्षेत्र में रोगरहित होकर शोभित हो ।

वाड्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्षणोः श्रोत्रं कर्णयोः ।

अपलिता केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम् ।

ऊर्वोरोजो जड्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा... ॥

(अथर्व. 19.60.1-2)

अर्थात् मेरी वाणी, प्राण, आँख और कान अपना-अपना कार्य करें । मेरे बाल काले रहें, दाँतों में रोग न हो, बाहुओं में भरपूर बल हो, उरुओं में ओज, जाँघों में वेग तथा पैरों में दृढ़ता हो ।

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।

आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।

वर्चोदा अग्नेऽसि वर्चो मे देहि ।

अग्ने यन्मे तन्वा ऊनं तन्म आपृण ॥

(यजु. 3.17)

अर्थात् हे अग्नि ! तुम शरीर की रक्षा करने वाले हो, मेरे शरीर को पुष्ट करो । तुम आयु को देने वाले हो, मुझे पूर्ण आयु दो । तुम तेज को देने वाले हो, मुझे तेजस्वी बनाओ । मेरे शारीरिक स्वास्थ्य में जो भी कमी हो, उसे पूरा करो ।

भद्रं जीवन्तो जरणामशीमहि । (ऋ. 10.37.6)

अर्थात् हम कल्याण-मार्ग पर चलते हुए वार्धक्य को प्राप्त करें ।

जीवन केवल 'देह' पर निर्भर नहीं, अपितु मन, बुद्धि एवं प्राण-इन सभी का स्वस्थ होना अनिवार्य है, तभी सार्थक एवं समग्र जीवन जिया जा सकता है, यह भाव वैदिक वाड्मय में अनेकशः व्यक्त हुआ है, तद्यथा-

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।

अथो अरिष्टतातये ॥ (अथर्व. 8.19.2)

अर्थात् हे पावन प्रभु ! मुझे कर्म, नैपुण्य और निरापद जीवन के लिए पवित्र कीजिए ।

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु । (यजु.34.1)

अर्थात् ऐसा मेरा मन कल्याणकारी सङ्कल्प वाला हो ।

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि । (अथर्व. 6.45.1)

अर्थात् हे मेरे मन के पाप ! दूर हये, क्यों अशुभ बात कहते हो ?

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वाऽतितृण्णं ।

बृहस्पतिर्मे तदधातु ! शनो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥

(यजु. 36.2)

अर्थात् मेरे चक्षु, हृदय अथवा मन की जो भी न्यूनता है, उसे ज्ञानस्वरूप परमात्मा पूरा करें। ब्रह्माण्ड के अधिपति प्रभु हमारा कल्याण करें।

स्वस्थ शरीर, अनध मन, प्रखर प्रज्ञा और सशक्त प्राण—इन सबका समन्वित रूप ही सार्थक एवं समग्र जीवन का सार है, यह तथ्य वैदिक चिन्तन से सर्वथा सुपुष्ट होता है। वैदिक प्रार्थनायें बुद्धि की तीक्ष्णता ही नहीं, अपितु सुमार्गगामिता की आकाङ्क्षा को भी अभिव्यक्ति देती हैं, जिससे यह सुव्यक्त होता है कि जब मनुष्य की धी, मेधा और प्रज्ञा दैवी प्रेरणाओं से प्रशस्त होती हैं तो जीवन उत्कर्ष की ओर अग्रसर होता है—

धियो यो नः प्रचोदयात् । (ऋ. 3.62.10)

अर्थात् वह सविता देव हमारी बुद्धि को सन्मार्ग पर प्रेरित करें—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।

तथा मामद्य मेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु ॥

(साम. 32.14)

अर्थात् हे अग्निस्वरूप प्रकाशक प्रभो ! जिस मेधाबुद्धि की देवजन और पूर्वजन उपासना करते हैं, उसी धारणवती मेधा-बुद्धि से आज मुझे मेधावी बना दो।

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वर्तीं ब्रह्मजूतां ऋषिष्ठुताम् ।

प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानामवसे हुवे ॥

(अर्थव. 6.108.2)

अर्थात् मैं उस प्रशस्त ज्ञानवती, ज्ञानियों द्वारा सेवित, ऋषियों द्वारा स्तुत और ब्रह्मचारियों द्वारा आत्मसात् की गई मेधा का आह्वान करता हूँ कि वह मेरे दिव्य गुणों की रक्षा करे।

आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह ।

सा नो दुहीयद् यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः ॥

(ऋ. 10.101.9)

अर्थात् हम सब उस यज्ञिय धी का सेवन करें जिसकी पूजा देव जन करते हैं। जैसे गौ के खेत में चर कर आई हुई गौ सहस्रधार दुग्ध देकर हमें तृप्त करती है, उसी प्रकार यह यज्ञिय बुद्धि हमारी कामनाओं को सफल कर हमें तृप्त करे।

निर्मल, यज्ञिय बुद्धि मनुष्य को निश्चय ही कल्याण की ओर ले जाती है, उससे सतत यज्ञकर्मों का विस्तार होता है—यही स्पृहणीय सुमति है—

वयं देवानां सुमतौ स्याम। (अथर्व. 6.47.2)

अर्थात् हम दिव्य सुमति में स्थिर रहें।

ऐसी सुन्दर भावनाओं वाला जीवन ही कह सकता है कि हम सदा 'सुमन'—स्वभाव बनें—हमारा मन प्रसन्न रहे। क्योंकि मन की दिव्यता ही मनुष्य को सम्यक् जीवन जीने की शक्ति और प्रेरणा प्रदान करती है। इसीलिए वैदिक मन्त्र 'दैवी मन' की स्तुति करते हैं—

सं जानामहै मनसा सं चिकित्वा मा युष्महि मनसा दैव्येन।

मा घोषा उत्थुः बहुले विनिर्हते मेषु पप्तद् इन्द्रस्याहन्यागते ॥

(अथर्व. 7.52.2)

अर्थात् हम सम्यक् प्रकार से ज्ञान प्राप्त करें, उस पर भलीभाँति विचार करें, दैवी मननशक्ति से कभी वियुक्त न हों। विपत्तियों का बाहुल्य होने पर हम हाहाकार न कर उठें और सुख होने पर इन्द्र का वज्र हम पर न गिरे यानि सुख हमें इन्द्रत्व (आत्मतत्त्व) से, अपने आपे से बाहर न कर सके।

देवानां भद्रा सुमतिर्द्वजूयतां...। (ऋ.1.89.2)

अर्थात् देवताओं की कल्याणी सुमति हमें प्राप्त होवे।

दैवी संरक्षण सुलभ हो जाने पर जीवन-यात्रा का अभीष्ट गन्तव्य सिद्ध हो जाता है। जो मनुष्य तपश्चर्या के द्वारा शरीर को पवित्र बनाकर उसमें बसने वाले परम प्रकाशरूप ज्ञान की आराधना करता है, उसके लिए दिव्य ऐश्वर्य 'वसु' सुदीप्त हो उठता है—

यो अग्निं तन्वोऽदमे देवं मर्त्तः सपर्यति।

तस्मा इद् दीदयद् वसु ॥ (ऋ. 8.44.15)

अर्थात् जो मानव शरीर के दमन द्वारा परमगति एवं परम प्रकाशरूप अग्निदेव की उपासना करता है, उसके लिए वसु या प्रकाशक तत्त्व धन चमक उठता है।

पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्यते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।
अतप्ततनूर्न तदामो अशनुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥

(ऋ. 9.83.1)

अर्थात् हे ब्रह्माण्ड के अधिपति ! तुम्हारी निर्मल, पावक शक्ति सर्वत्र फैली हुई है । वह हमारे शरीरों को भी सब ओर से व्याप्त किए हुए है । पावक तेज की इस वहि में जो अपने तन को तपा कर पवित्र नहीं कर लेता, वह उस प्रभु को प्राप्त नहीं कर सकता । जो तप जाता है, पक जाता है, वही अपने कर्तव्य का पालन करते हुए प्रभु तक पहुँच पाता है ।

ऐसा तपःपूत जीवन विकास की ओर प्रयाण करता है और प्राणशक्ति के वर्चस्व की कामना करता है । मन की ज्योति ही प्राण को प्रखर बनाती है और प्राण का प्रकर्ष ही मनुष्य को महाण व्यक्तित्व का स्वामी बना सकता है । अतः प्राणवत्ता का आह्वान वैदिक मन्त्रों में प्रचुरता से दृष्टिगत होता है-

पुनः प्राण पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनररसुर्न ऐतु ।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठति दुरितानि विश्वा ॥

(अथर्व. 6.53.2)

अर्थात् हमारे शरीर में प्राण, आत्मा, चक्षु और जीवन की पुनः प्रतिष्ठा हो । शरीर रक्षक अग्नि हमारे शरीर के भीतर रहकर सब दुरितों को हयता रहे ।

संक्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् ।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥

(अथर्व 7.53.2)

अर्थात् हे प्राण और अपान ! तुम इस शरीर को मत छोड़ो, तुम दोनों साथ-साथ इस ही देह में रहो । हे मनुष्य ! तू शतायु हो तथा प्रकाश एवं ऊर्जारूप अग्नि तेरा रक्षक होकर तेरे शरीर में ही वास करे ।

वस्तुतः प्राण ही मर्त्य मानव-देह में प्रतिष्ठित अमृत है; वैदिकी प्राणविद्या ही सनातन योगविधि है-

प्राणा एवामृता आसुः

शरीरं मर्त्यम् ॥ (शतपथ ब्राह्मण, 10.14.1)

अर्थात् प्राण ही अमृत हैं । यह शरीर मर्त्य है ।

मानुषी देह में जो जीर्णता का अंश है, वही मर्त्य है और जो अरिष्टता का अंश

है, वही अमृत है, उसी अक्षय निधि 'प्राण' की वृद्धि हेतु अभीप्सा निम्न वैदिक मन्त्र में प्रकट हुई है-

प्रविशतं प्राणापानावनद्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥

(अथर्व. 7.53.5)

अर्थात् प्राणापान दोनों शरीर में इसी भाँति प्रविष्ट होते रहें जैसे गोष्ठ में दो वृषभ हों। स्तोता की यह आयुरूपी निधि अरिष्ट (अक्षय) रूप में बढ़ती रहे।

वस्तुतः शरीर के अन्दर व्याप्त प्राणाग्नि ही हमारी आयु की वृद्धि का साधक है और रोगों का निवारक है। इसीलिए वैदिकवाङ्मय में बहुधा प्राण को अग्नि कहा गया है-

प्राणो अमृतं तद् हि अग्ने रूपम्। (शतपथ ब्राह्मण, 10.2.6.18)

अर्थात् प्राण अमृत है, वही अग्नि का रूप है।

तदग्निर्वें प्राणः। (जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण 4.22.11)

अर्थात् वह अग्नि ही प्राण है।

प्राणो अग्निः (शतपथ ब्राह्मण 6.3.1.21)

अर्थात् प्राण अग्नि है।

यही कारण है कि 'तनूपा' अग्नि से आयु, वर्चस् और प्राण की संहति का वैदिक सङ्कल्प पढ़ा जाता है।-

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनवा संशिवेन।

त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्षु तन्वो यद्विरिष्टिम्॥

(अथर्व. 6.53.3)

अर्थात् वर्चस्, प्राणरस और शरीरों के बीच मेल बना रहे तथा हम कल्याणकारी मन से समवेत रहें। हमारे शरीर में जो जीर्णता का अंश हो, उसे त्वष्टा या शरीर के निर्माता प्राण धो डालें।

प्राणोत्पादिनी जीवनी-शक्ति से समवेत प्राणी का जीवन स्फूर्त, सोत्साह एवं सक्रिय होता है, उसकी मति शुभ, सङ्कल्प शिव तथा शरीर स्वस्थ होता है-ऐसा जीवन ही काम्य तथा प्रशस्य होता है क्योंकि यह एक सन्तुलित, समग्र एवं अखण्ड जीवन-दृष्टि का द्योतक है। शरीर, मन, बुद्धि एवं प्राण जब स्वस्थ होते हैं, तब

आत्मा बलवान् होता है और जीवन शलाघ्य बनता है। ऐसी उदात्त स्थिति में ही मनुष्य सूर्य के समान होने की प्रार्थना करता हुआ कह उठता है-

अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वाँस्त्वं देवेष्वसि ।
वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥

(यजुर्वेद 8.38)

सूर्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि ।
भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥

(यजुर्वेद, 8.40)

अर्थात् हे अग्नि ! जैसे तू देवों में वर्चस्वी है, वैसे ही मैं मनुष्यों में वर्चस्वी बनूँ। हे सूर्य ! जैसे तू देवों में भ्राजिष्ठ है, वैसे ही मैं मनुष्यों में तेजस्वी बनूँ।

ऐसा दिव्य, स्तुत्य एवं भव्य जीवन वस्तुतः महनीय है जिसमें देही आत्मा एक स्वस्थ देह, सशक्त इन्द्रियों, कल्याणी सुमति एवं ज्येष्ठ प्राण से आप्यायित अक्षय आयु का भोग करता है तथा ऋत के मार्ग का अनुसरण करता है। ऐसा शलाघ्य जीवन प्रकृति के विराट् नियमों का कभी उल्लङ्घन नहीं करता, अपितु व्यष्टि के साथ समष्टि, पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड और अन्तःप्रकृति के साथ बाह्य प्रकृति का सन्तुलन स्थापित करने का प्रयास करता है। जीवन की बहुमुखी साधनाओं में से सर्वोपरि राधना यही है कि भोग के साथ त्याग का समन्वय हो-

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः । (यजुर्वेद 40.1)

अर्थात् त्यागपूर्वक भोग करो ।

इसीलिए वैदिक चिन्तन में जीवन-यात्रा का वर्णन एक ऐसी पथरीली नदी के रूप में किया गया है जो सतत गतिशील है तथा हम मनुष्यों के प्रति यह उद्बोधक सन्देश दिया गया है कि हम उत्साहपूर्वक इसे पार करें, साथ ही सब ‘अशिव’ भावनाओं को त्यागकर ‘शिव’ कामनाओं के साथ आगे बढ़ें-

अश्मन्वती रीयते संरभध्वमुत्तिष्ठत प्रतरता सखायः ।

अत्रा जहाम ये असन्शेवाः शिवान् वयमुत्तरेमाभि वाजान् ॥

(ऋ. 10.53.8)

अर्थात् हे मित्रो ! (जीवनरूपी) पथरीली नदी बह रही है, उठो, तैयार हो जाओ और इसे पार कर जाओ। आओ, जो भी अशुभ विचार हैं, उन्हें यहीं छोड़कर हम मङ्गल सङ्कल्पों को साथ लेकर पार जायें।

अत्तिष्ठतं सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्। (अर्थव. 11.9.2)

अर्थात् हे मित्रों! उठो, तैयार हो जाओ, तुम सब दिव्य शक्तिसम्पन्न हो।

ऐसा 'सुभद्र' जीवन सबके लिए सदा शुभ शब्दों के श्रवण की, मङ्गल दृश्यों के अवलोकन की तथा सुस्थिर अङ्गों के द्वारा सुपुष्ट तनु और दिव्य आयु के आसेवन की ही प्रार्थना करता है-

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।

स्थिरैरड्डैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥

(ऋ. 1.89.8)

अर्थात् हे देवजनो! हम सब कानों से मङ्गल सुनें, यजनशील होकर आँखों से मङ्गल देखें, सुपुष्ट अङ्गों वाले शरीर से हम देवजनों द्वारा निर्धारित सम्पूर्ण आयु का सेवन करें।

इस विशाल ब्रह्माण्ड के कण-कण में व्याप्त दैवी शक्तियाँ या देव 'ऋत' के मार्ग से गमन करते हुए अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, अतः मनुष्य देहधारी हम जैसे जीवों को सदा अपना अजस्त्र सम्बन्ध उसी दिव्य ज्योति के साथ बनाए रखना चाहिए जो विराट्, अखण्ड और अनागस है-

अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम। (ऋ. 1.24.15)

अर्थात् हे आदित्य! हम अखण्ड सिद्धि के लिए तेरे अनघ व्रत के अधीन रहें।

ऐसे ज्योति मार्ग के पथिक, सत्यज्ञान वाले, निष्पाप एवं विशुद्ध दृष्टि वाले जन देवत्व की ओर अग्रसर होते हैं और अमृतत्व के अधिकारी बनते हैं-

नृचक्षसोऽनिमिषन्तोऽर्हणा बृहददेवासोऽमृतत्वमानशुः।

ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवो वर्ष्माणं वसते स्वस्तये॥

(ऋ. 10.63.4)

अर्थात् जो मनुष्यों को पहचानने वाले, स्थिरदृष्टि, योग्य, बृहद् दिव्यताओं के भागी, ज्योति के वाहन पर आरूढ़ होकर चलने वाले, सत्य ज्ञान वाले, निष्पाप और दैवी शरीर के धारक होते हैं-वे देव अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

जिस सुभग जन को ऐसे आदित्य देव सुपथ द्वारा ले जाते हैं वह समस्त दुरितों को पार कर जाता है, उसका कोई अरिष्ट नहीं होता और वह धर्म के द्वारा प्राप्त प्रजा से वर्धिष्य होता है-

अरिष्टः स मत्तो विश्व एथते प्र प्रजाभिर्जयते धर्मणस्परि ।
यमादित्यासो नवथा सुनीतिभिरति विश्वानि दुरिता स्वस्तये ॥

(ऋ.10.63.13)

अर्थात् जिसको आदित्य देव सुन्दर मार्ग द्वारा ले जाते हैं, वह समस्त दुरितों, पापों को अतिक्रान्त कर जाता है और उस मनुष्य का फिर कोई अनिष्ट नहीं होता। वह धर्मपरायण बनकर भौतिक तथा आध्यात्मिक प्रजा से वृद्धि को प्राप्त होता है और संसार में समृद्ध बनता है।

वस्तुतः वैदिकी जीवन-दृष्टि जीवन के 'जन' रूप से लेकर उसके 'मृत्युञ्जय' पदपर्यन्त पहुँचने की साधना है। मात्र मानव-जन्म लेकर देह और इन्द्रियों के भागों में लिप्त रहने वाला 'जन' जब देखने की क्षमता प्राप्त करता है तो 'पशु' (=पश्यतीति पशुः) संज्ञा का भागी होता है। किन्तु वेद का आह्वान है कि स्वयं 'मनु' (=मनुत इति) बनो और दैवी सन्तति को जन्म दो-

मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् । (ऋ. 10.53.6)

अर्थात् हे मानव ! तू मननशील बन और दिव्य सन्ततियों को जन्म दे।

मननशीलता का विकास होते ही मानव का जीवन उत्कर्ष की ओर उन्मुख हो उठता है और दैवी स्थिति की उत्पत्ति सम्भव होती है—ऐसे मनुष्य का समग्र व्यक्तित्व एक सन्तुलित, सुगठित एवं संयत जीवन-यज्ञ का प्रतिमान होता है जिसका शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि एवं प्राण पूर्णतः सुव्यवस्थित होते हैं तथा जो कल्याण-मार्ग का पथिक होता है, उसके यज्ञ में दिव्यताओं का प्रवेश होता है—

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा, देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥

(अथर्व. 2.35.5)

अर्थात् इस मानव-जीवन रूपी यज्ञ का निष्पादन नेत्र, मुख, वाणी, श्रोत्र और मन से होता है, मैं जो कुछ देखता, बोलता, सुनता या मनन करता हूँ, वह सब मानो आहुति दे रहा हूँ। वस्तुतः यह यज्ञ स्वयं ईश्वर द्वारा विस्तृत है, इस यज्ञ में देव प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश करें।

जीवन में इस यज्ञिय भावना से व्यष्टि और समष्टि के मध्य अभिन्न सम्बन्ध का बोध होता है जो वैदिक चिन्तन का मूल मन्त्र है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बीच एक सूत्रता स्थापित करने वाली वैदिकी दृष्टि सर्वत्र द्वन्द्वों के मध्य सङ्गति का सङ्केत

देती है, तद्यथा-द्यौ-पृथिवी, ज्योति-तम, अग्नि-सोम, ऋत्-अनृत, प्राण-अपान तथा देव-असुर आदि। इन द्वन्द्वों के द्वारा वैदिक दर्शन परस्पर सहकार, समर्पण तथा सहभाव का शाश्वत सन्देश देता है। तदनुसार मानव-जीवन ही एक यज्ञ है जो पिण्ड रूप देह में सतत चल रहा है, दूसरी ओर सकल ब्रह्माण्ड में एक विराट् यज्ञ प्रवर्तमान है जिसमें भूमि वेदी है, अग्नि आहुत सामग्री को ऊपर ले जाता है और वायु उसे अन्तरिक्ष में फैलाता है। इसीलिए वेद ने यज्ञ को इस भुवन का केन्द्र कहा है-

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।

(ऋ. 1.164.34)

इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः॥

(ऋ. 1.164.35)

अर्थात् मैं तुमसे इस पृथिवी का अन्तिम छोर पूछता हूँ और इस ब्रह्माण्ड का केन्द्र पूछता हूँ। यह यज्ञ की वेदी ही पृथिवी का अन्तिम छोर है और यज्ञ ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है।

यज्ञ में अपने से श्रेष्ठ, दिव्य शक्तियों की पूजा, समान जनों के साथ सङ्गतिकरण तथा स्वयं से निम्न जनों के प्रति दान की भावना-ये तीनों समाविष्ट हैं, अतः यज्ञ सृष्टि का श्रेष्ठतम कर्म है जिसमें भाव, ज्ञान एवं कर्म-तीनों मानवीय प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है—यज्ञ व्यष्टि और समष्टि दोनों स्तरों पर सुख-शान्ति का साधक है। मनुष्य का जीवन यज्ञ का ही निर्दर्शन है—

पुरुषो वाव यज्ञः। (शांखायन 17.7)

अर्थात् पुरुष (का जीवन) यज्ञ है।

पुरुषो वै यज्ञः। (शतपथब्राह्मण, 1.3.2.1)

अर्थात् पुरुष (का जीवन) निश्चय ही यज्ञ है।

इस अध्यात्म-यज्ञ में निश्चय ही मनुष्य का आत्मा यजमान है, मन ब्रह्मा है, प्राण उद्गाता है, वाक् होता है और चक्षु अध्वर्यु है, प्रजापति अग्नि है तथा शरीरस्थ अन्य शक्तियाँ ऋत्विज हैं—

“**पुरुषो वै यज्ञस्तस्य मन एव ब्रह्मा, प्राण उद्गाता, अपानः प्रस्तोता, व्यानः प्रतिहर्ता, वाग् होता, चक्षुरध्वर्युः, प्रजापतिः सदस्यः, अंगानि होत्राशस्सिनः, आत्मा यजमानः।**” (गोपथ. उ. 5.4)

अर्थात् मनुष्य का जीवन एक यज्ञ है आत्मा यजमान है, मन ब्रह्म है, प्राण उद्गाता है, अपान प्रस्तोता है, व्यान प्रतिहर्ता है, वाक् होता है, चक्षु अध्वर्यु है, प्रजापति अग्नि है तथा शरीर के अङ्ग अन्य ऋत्विज हैं।

ऐसा उदात्त, यज्ञिय जीवन शान्ति, कल्याण और अभय का अधिष्ठान है-

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।

शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥

(अर्थव. 19.9.2)

अर्थात् हमारी पूर्व-योजनायें शान्ति का अनुसरण करने वाली हों, हमारे कृत और अकृत कार्य शान्ति का अनुसरण करने वाले हों। हमारा भूत, वर्तमान और भव्य-सब शान्त हों।

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नश्चतस्त्रः प्रदिशो भवन्तु। (ऋ.7.35.8)

× × ×

अहानि शं भवन्तु नः शं रात्रीः प्रतिधीयताम्॥ (यजु. 36.11)

अर्थात् विस्तृत प्रकाश वाला सूर्य, हमारे लिए कल्याणकारी रूप से उदय हो, चारों दिशायें हमारे लिए शुभ हों, दिन हमारे लिए शुभ हों और रात्रियाँ कल्याणकारिणी हों।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।

अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥

(अर्थव. 19.15.6)

अर्थात् हमारे लिए मित्र से अभय हो, परिचित से और परोक्ष से अभय हो। रात्रि में अभय हो और दिन में अभय हो—सारी दिशायें मेरी मित्र हों।

वैदिक चिन्तन में जिस कर्मठ, आशावादी और उल्लासपूर्ण जीवन की झलक मिलती है वह आधुनिक सन्दर्भ में सन्त्रास, निराशा और व्यग्रता भरे मनुष्यों के लिए अनुपम औषध है—

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः। (अर्थव.7.50.8)

अर्थात् कर्म मेरे दायें हाथ में हैं और जय मेरे बायें हाथ में।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः॥ (यजु. 40.2)

अर्थात् मनुष्य इस लोक में कर्म करते हुए ही सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे।

अहमिन्द्रो न पराजिग्ये। (ऋ. 10.48.5)

अर्थात् मैं इन्द्र हूँ, अतः पराजित नहीं होता हूँ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्।

अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषसाहि॥

(अथर्व.12.1.54)

अर्थात् मैं स्वभावतः विजयशील हूँ। पृथिवी पर मेरा उत्कृष्ट पद है। मैं विरोधी शक्तियों को परास्त कर, समस्त विघ्न-बाधाओं को दबाकर प्रत्येक दिशा में सफलता पाने वाला हूँ।

पूर्ण आत्मविश्वास, उत्साह और आनन्द से भरा जीवन सार्थक एवं स्तुत्य है, यह ऐसी दुर्लभ अनिर्वचनीय उपलब्धि है जो सर्वत्र माधुर्य की प्रतीति कराती है—घुलोक से पृथिवीपर्यन्त मधुरता बिखरी अनुभव होती है—

मधु वाता क्रत्यायते, मधु क्षरन्ति सिन्धवः।

माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥

मधु नक्तमुतोषसो मधुमत् पार्थिवं रजः।

मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥

(ऋ. 1.90.6-7)

अर्थात् मेरे लिए वायु मधुमय हों, सिन्धु मधुमय हों, औषधियाँ मधुमती हों। रात्रियाँ मधुमय हों, उषायें मधुमय हों, पार्थिव लोक मधुमय हों, पितृतुल्य घुलोक मधुमय हो।

दिव्य आनन्द और अद्भुत माधुर्य की पुष्कल अनुभूति होने पर अमृतत्व की प्राप्ति के अतिरिक्त और कुछ कामना शेष नहीं रहती—

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते।

कामस्य यत्राप्ताः कामाः तत्र माममृतं कृधि॥

(ऋ. 9.113.11)

अर्थात् हे प्रगो ! जहाँ आनन्द, मोद, प्रमोद और उल्लास रहते हैं, जहाँ सबकी सब कामनायें तृप्त हो जाती हैं, उस अमृत स्थिति में मुझे सदा रखिये।

विश्वाहा वयं सुमनस्यमानाः। (ऋ. 3.75.18)

अर्थात् हम सदा ही स्वयं को प्रसन्न रखें।

विश्वदानीं सुमनसः स्याम पश्येम नु सूर्यमुच्चरन्तम्। (ऋ. 6.52.5)

अर्थात् हम सदा प्रसन्न रहते हुए उदीयमान सूर्य को देखें।

इस भाँति वैदिकी जीवन-दृष्टि ससीम से असीम, मृत्यु से अमृतत्व, तप से ज्योति और पृथिवी से द्युलोक पर्यन्त अभ्युत्थान का सनातन सन्देश है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपने सङ्कल्प, पुरुषार्थ और प्रयास के द्वारा उत्कर्ष के सोपानों पर चढ़ता हुआ लक्ष्य-सिद्धि कर सकता है इसके लिए प्रकृति की सभी दिव्य शक्तियाँ—अग्नि और सूर्य, मित्र और वरुण, मरुत् और पर्जन्य-प्रेरणा प्रदान करती हैं तथा भविष्णु जन को अनन्त सम्भावनाओं की छवि दिखाती हुई तेज तथा यश की कामना जाग्रत करती हैं। ऐसा प्रेरित-प्रदीप्त मन सहज ही कह उठता है—

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशा: सोमो अजायत ।

यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥

(अथर्व. 6.33)

अर्थात् जैसे सूर्य यशस्वी है, अग्नि यशस्वी है, चन्द्रमा यशस्वी है, वैसे ही अपने जीवन में मैं सब भूतों में यशस्वी बनूँ।

भव्य जीवन की श्रेष्ठ भावनाओं में उल्लसित मन-प्राण वाले व्यक्ति को वेद परस्पर सांमनस्य, सौहार्द और संज्ञान जैसी भद्र भावनाओं का सन्देश देता है जिससे व्यक्तियों के समुदाय-परिवार, समाज और विश्व स्नेह एवं सौहार्द से सुवासित हो उठें तथा सभी मनुष्यों के मध्य मैत्री और विश्वबन्धुत्व का भाव उदय हो—

सहदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमभिर्हर्यत वत्सं जातमिवाच्या ॥

(अथर्व. 3.30.1)

अर्थात् हे मनुष्यो ! मैं तुम्हें सहदयता, सांमनस्य और अविद्वेष का सन्देश देता हूँ। तुम सब परस्पर इस भाँति प्रेम रखो जैसे गाय अपने नवजात बछड़े के प्रति रखती हैं।

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

(ऋ.10.191.4)

अर्थात् तुम सब का भाव समान हो, तुम्हारे हृदय समान हों, तुम्हारे मन समान हों, जिससे कि तुम्हारे मध्य परस्पर ‘सुसह’ का भाव हो।

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।

संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नियच्छत्तम् ॥

(अथर्व.7.52.1)

अर्थात् हमारा आत्मीयों के साथ ऐकमत्य हो तथा अपरिचितों के साथ ऐकमत्य हो। हे अश्विनीयुगल! दुम हम सबके मध्य परस्पर मिलकर रहने का गुण उत्पन्न करो।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

(यजु. 36.18)

अर्थात् मैं सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखूँ एवं हम सब परस्पर मित्र की दृष्टि से देखा करें।

पुमान् पुमाँसं परिपातु विश्वतः । (ऋ. 6.75.14)

अर्थात् एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की सर्वथा रक्षा करे।

संक्षेप में, उक्त सङ्केतों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिकी जीवन-दृष्टि एक व्यावहारिक किन्तु आदर्शोन्मुख, भौतिक किन्तु अध्यात्म से अनुप्राणित, व्यष्टिपरक किन्तु समष्टि-जीवन के भद्र-भाव से समन्वित तथा मर्त्य जीव की अमृतत्व-उपलब्धि का दिव्य सन्देश है जिसके अनुसार मानव-जीवन एक ऐसा अद्भुत स्वर्णिम अवसर है जिसमें नश्वर देह से अक्षय देही तक, वामन से विराट् तक, सान्त से अनन्त तक, पिण्ड से ब्रह्माण्ड तक एवं परिच्छिन्न से भूमा तक पहुँचना सम्भव है। जिस भाग्यशाली जीव को इस जीवन का रहस्य अधिगत हो गया, वह अनायास ही कह उठता है-

योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि । (यजु. 40.17)

अर्थात् जो 'अदस्' पद-वाच्य 'यह' है, वही तद्वाच्य 'मैं' हूँ।

साररूप में मानव-जीवन की कला यही है कि विवेकशील मनुष्य तम और ज्योति का, ऋत और अनृत का, मृत्यु और अमृत का, अल्प और भूमा का, असत् और सत् का अन्तर जानकर वरणीय का वरण करे तथा हेय का त्याग करे, तभी निम्न वैदिक प्रार्थनाओं का वास्तविक मर्म हृदयङ्गम हो सकता है-

असतो मा सद् गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।
मृत्योर्मा अमृतं गमय ॥

ऐसी स्पृहणीय स्थिति सुलभ है, यह वेद के ही निम्न मन्त्र से सुव्यक्त है जिसमें मरणधर्मा मनुष्य दिव्य ज्योति के आलोक में सर्वोच्च सिद्धि पाकर आनन्दमग्न हैं तथा सोत्साह अन्य मर्त्यों को उद्बोधित करते हुए कह उठते हैं-

अपाम सोमममृता अभूम अगन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनम् अस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिः अमृत मर्त्यस्य ॥

(ऋ. 8.48.3)

अर्थात् अब हमने अमृत-रस का पान कर लिया है और हम अमर हो गये हैं, ज्योति को प्राप्त कर चुके हैं तथा दिव्यताओं की उपलब्धि कर चुके हैं। अब दुर्गुण, दुर्भाव आदि शत्रु हमारी क्या हानि करेंगे क्योंकि मर्त्य मनुष्यों के धर्म अब अमृत के समक्ष परास्त हो चुके हैं।